विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ

1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010

फोन : 0734-2521499, 0755-2660407

Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com

Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2

अभिलेखों में दक्षिण भारत के शासक
ईशान अवस्थी

पृष्ठ क्र. 3-4

उपनिषद और वेदों की परंपरा में शिव
धीरेंद्र कुमार शर्मा

पृष्ठ क्र. 5-6

प्राचीन भारतीय सिंचाई व्यवस्था
पवन कुमार पटेल

पृष्ठ क्र. 7

अवंतीपुर और प्रथम गणितज्ञ लगध
मिथिलेश यादव

पृष्ठ क्र. 8

समय के प्रवाह को दर्शाती राजतरंगिणी
अमित बिसेन

अभिलेखों में दक्षिण भारत के शासक

ईशान अवस्थी

पहली से आठवीं शती के बीच प्राकृत एवं संस्कृत के बहुसंख्य अभिलेख हैं। शक एवं सातवाहन राजाओं के अभिलेखों में साहित्यिक प्राकृत के साथ संस्कृत का मिश्रण प्राप्त होता है। सातवाहन राजाओं के अभिलेखों में यत्र-तत्र संस्कृत का स्वतंत्र प्रयोग भी दृष्टिगत होता है। अभिलेखों में स्थानीय सुविधा तथा प्रचलन के अनुसार क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग दक्षिण भारत में प्रारम्भ हुआ। आन्ध्र प्रदेश में तेलगू भाषा में अभिलेख छठी शताब्दी से लिखे जाने लगे तथा लगभग इसी समय कन्नड़ भाषा में अभिलेख मैसूर क्षेत्र से पाए गए। इस तरह भाषागत विविधता धीरे-धीरे अभिलेखों को समृद्ध करती गई। गोदावरी और कृष्णा नदी के बीच में रहनेवाले लोगों को 'आन्ध्र' कहा गया है। प्राचीन काल में आन्ध्र के लोग अशोक के राजनीतिक प्रभाव में थे। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद यह क्षेत्र स्वतंत्र हो गया। सातवाहन शासक अभिलेखों में अपने को 'सातवाहन' या 'शतकणि' कहते हैं। साहित्य में यदा-कदा इस वंश के लिए 'शालिवाहन' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। अधिकतर विद्वान महाराष्ट्र को सातवाहनों का मूल स्थान मानते हैं, क्योंकि उनके बहुसंख्य अभिलेख वहीं से मिले हैं। सातवाहनों का अभ्युदय प्रतिष्ठान (पश्चिमी दक्कन) के आसपास हुआ। वहीं से उनका साम्राज्य सभी दिशाओं में फैला। सिमुक सातवाहन वंश का संस्थापक था। वह जैन तथा बौद्ध धर्म का संरक्षक भी था। इस वंश के प्रमुख शासकों में शातकर्णि प्रथम, गौतमी पुत्र शातकर्णि, वासिष्ठी-पुत्र पुलुमावि तथा यज्ञश्री शातकर्णि उल्लेखनीय हैं। चतुर्थ पुलुमावि को इस वंश का सबसे अन्तिम राजा कहा गया है। ईसा की तीसरी शती आते-आते यह साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पल्लव राजवंश का इतिहास सिंहविष्णु के समय अधिक सुनिश्चित होता है। इस राज्य के अनेक अभिलेख मिले हैं जिनके अनुसार पल्लव राज्य के अन्तर्गत केवल काँची की नहीं वरन् तेलगू और कन्नड़ जिलों के बड़े भाग सम्मिलित किए गए थे। सिंहविष्णु का उत्तराधिकारी उसका पुत्र महेन्द्रवर्मन प्रथम था, जिसके शासनकाल में पल्लवों और वातापी के चालुक्यों में दक्षिण भारत के आधिपत्य के लिए भीषण संघर्ष की जानकारी मिलती है। छठी शती में कन्नड़ बोलने वाले प्रदेश में चालुक्य शक्तिशाली हुए तथा उनकी राजधानी बम्बई राज्य के बीजापुर जिले की वातापी या आधुनिक बादामी में थी। इस वंश का संस्थापक पुलकेशिन प्रथम माना जाता है। कालान्तर में इसके पुत्र कीर्तिमान प्रथम और भाई मंगलेश ने साम्राज्य को प्रत्येक दिशा में फैलाया। कीर्तिवर्मन का पुत्र पुलकेशिन द्वितीय इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा तक सम्पूर्ण दक्कन को जीतकर एक विशाल साम्राज्य हुआ। इस सन्दर्भ में पुलकेशिन द्वितीय का एहोल अभिलेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है। छठी शताब्दी का महाराष्ट्र से प्राप्त ध्रुवसेन प्रथम का गौतमच्छैल ताम्रपट्टाभिलेख में 'सीता' भूमि दान में देने का उल्लेख है। छठी शती में कर्णाटक के धारवाड़ जिले से प्राप्त एक महत्वपूर्ण अभिलेख भूमि के एक अन्य प्रकार पुक्कोली खजाना या खज्जान का उल्लेख करता है। तटीय प्रदेशों में तटबन्ध बनाए जाने पर, जो अतिरिक्त भूमि प्राप्त होती, उसे पुक्कोली खज्जान कहा जाता था। पुक्कोली खज्जान शब्द पर समकालीन विद्वानों ने भी प्रकाश डाला है। पुक्कोली खज्जान को दक्कन प्रदेश में भू-सुधार से प्राप्त कृषि योग्य भूमि मानते हैं. अर्थात् यह भूमि, भू-सुधार का एक प्रकार थी। पाँचवीं शती के चितलदुर्ग (कर्णाटक) से प्राप्त रविवर्मन के देवनगर ताम्रपट्ट में परती भूमि के रूप में केदार शब्द का प्रयोग मिलता है, जबकि इसी कालावधि में प्राप्त कदम्ब राजा मान्धातृवर्मन के ताम्रपट्ट में कृषि के लिए उपयुक्त भूमि को 'केदार' कहा गया है। पाँचवीं शती में कर्णाटक से मिले कुछ अभिलेखों से यह जानकारी मिलती है कि कभी-कभी राजा कृषि-योग्य भूमि के साथ-साथ गृह-स्थान के लिए

वास (वास्तु) भूमि भी दान किया करते थे। प्राचीन अभिलेखों में प्रायः राजा को पशुधन के अतिरिक्त, हिरण्य और भूमि का दान देने वाला कहा गया है। भूमि–दान का सम्बन्ध भू–स्वामित्व से जुड़ा हुआ है और भूमि दान सबसे प्राचीन पुरालेखीय प्रमाण ई. पू. प्रथम शताब्दी के एक सातवाहन अभिलेख में मिलता है जिसमें अश्वमेध यज्ञ में एक गाँव के दान की चर्चा है। वासिष्ठी–पुत्र पुलुमावि के दान–पत्र (पहली शती, महाराष्ट्र) एवं नहपानकालीन नासिक गुहा अभिलेख (पहली शती, महाराष्ट्र) 15 में उल्लेख है कि दान में दिए हुए गाँव में कोई सरकारी अधिकारी प्रवेश नहीं करेगा, उनमें से कोई नमक नहीं खोदेगा, स्थानीय सेना उनके कार्य में हस्तक्षेप नहीं करेगी, अर्थात् उन भिक्षुओं को दान की गई भूमि में राज–सेना का प्रवेश वर्जित था। राज्याधिकारी वहाँ के जीवन–क्रम में कोई विघ्न नहीं डाल सकते थे। इन्द्रवर्मन का कोन्दनगर अनुदानपत्र (सातवीं शती, आन्ध्र प्रदेश) 16 एवं नरेन्द्रधवलकालीन मद्रास संग्रहालय ताम्रपट (आठवीं शती, उड़ीसा) और पल्लव राजा गोपालदेव के हल्दीपुर ताम्रपट्ट (आठवीं शती, महाराष्ट्र) 18 से भूमिदान के समय साक्षी की उपस्थिति की अनिवार्यता का पता चलता है। धार्मिक उद्देश्य के अतिरिक्त भूमि सुधार के लिए भी राजा भू–दान हेतु प्रेरित किए जाते क्योंकि इसमें राज्य की समृद्धि निहित होती थी। इस प्रसंग में ध्यातव्य है प्रवरसेन द्वितीय वे चम्पक अभिलेख (पाँचवीं शती, महाराष्ट्र) का उल्लेख जिसमें राजा ने 8000 इकाइयों की चर्माणक गाँव को 1000 ब्राह्मणों को दान में दे दिया।

सातवीं शती के भू–दान पत्रों से यह ज्ञात होता है कि आन्ध्रप्रदेश के भू–भागों में एक साथ कई हिस्सों में भूमि का दान किया जाता था। अतः दान की गई भूमि में हिस्सेदारी की सूची इन अभिलेखों से प्राप्त होती है, यथा–विक्रमादित्य प्रथम का अमुदलपटु ताम्रपट्ट (आन्ध्र प्रदेश) 20, इन्द्रवर्मन का कोन्दगुरु ताम्रपट्ट (आन्ध्र प्रदेश) 2 तथा विष्णुवर्द्धन द्वितीय का कोकी ताम्रपट्ट (आन्ध्र प्रदेश) द्य पल्लव राजा कुमार विष्णु के चन्दालुर अनुदान पत्र (पाँचवीं शती, आन्ध्र प्रदेश) 23 में चेन्दालुर गाँव में खास भूमि (राज वास्तु) के 800 पट्टिकों का वर्णन है। यहाँ सम्पूर्ण गाँव या इसके किसी हिस्से को दान देने की स्थिति में राजा के बदले दान–ग्रहीता को राजस्व देने को कहा गया है। नेल्लौर–गुण्टुर क्षेत्र के स्कन्दवर्मन द्वितीय के पुत्र पल्लवसिंह वर्मन के विलावती अनुदानपत्र (पाँचवीं शती, आन्ध्र प्रदेश) में चर्चा है कि विलावती गाँव के सभी निवासियों द्वारा अब ब्राह्मण विष्णुशर्मन को सभी करों सहित दान देना पड़ेगा। इस विवरण का मुख्य आकर्षण राजा के इस अनुदेश में है–इस गाँव में धातुकर्मियों और चमड़े के काम करनेवाले (लोह–चर्मकार), वस्त्र विक्रेता व दुकानदार (आपण–पट्टकार), रस्सी पर करतब दिखानेवाले बाजीगर और नर्तक (रज्जुपतिहार) आजीविका द्वारा चुकाए जाने वाले कर, असभ्यों एवं जाति–बहिष्कृत (नहाल), मुखौटा लगाकर अभिनय करनेवाले (मुखधारक), पानी देखकर सगुन बतानेवाले (कूपदर्शन), बुनकर (तन्तुवाय) द्वारा चुकाए जाने वाला कर, जुआ (द्यूत), विवाह, नाई (नायित) पर लगने वाले कर (सर्वपरिहार) प्राप्त दस्तकार और ऐसे अन्य सभी कर जो मुझे (राजा को) प्राप्त होते थे– अब इस ब्राह्मण विष्णुशर्मन को ब्रह्मदेव के रूप में दिए जाएँगे। जो भी मेरे इस आदेश का उल्लंघन करेगा, वह दंड का भागी होगा। इस तरह पाँचवीं शती में भू–स्वामित्व का हस्तान्तरण होने का प्रमाण प्राप्त होता है। प्रवरसेन द्वितीय का चम्पक ताम्रलेख (पाँचवीं शती, महाराष्ट्र) एक रोचक विवरण देता है कि राज्य अपने पास ग्रामवासियों के कुछ अधिकार दानग्रहीता के विरुद्ध सुरक्षित रखता था। इसके अनुसार दानग्रहीता राज्य के बाहर अपने साथ पशुधन नहीं ले जा सकता था। कृषि के लिए पशुधन की उपयोगिता को ध्यान में रखने पर भूमि–दान महत्वपूर्ण हो जाता है। पशुधन खेती में सकारात्मक भूमिका निभाता है।

भूमि अनुदानों के परिणामस्वरूप अनुदत्त क्षेत्रों में शान्ति–सुव्यवस्था कायम रखने में सहायता मिलती थी, क्योंकि इन क्षेत्रों में इसका दायित्व दानग्रहीताओं को दिया जाता था। भूमि अनुदानों का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि ब्राह्मण संस्कृति का प्रसार हुआ। नासिक के एक अभिलेख में भृगुदास नामक व्यक्ति द्वारा भूमिदान की चर्चा है। उसी स्थान के एक दूसरे अभिलेख में ''उषवदात'' द्वारा भूमिदान का उल्लेख है। चुनार अभिलेख व्यक्तिगत दखल की भूमि के निजी हस्तान्तरण तथा कृषि भूमि का छोटे टुकड़ों के दान में उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। भूमि दान का एक प्रकार अग्रहारष्भी था। प्राचीन काल में राजा मन्दिरों तथा ब्राह्मणों को भूमिदान देता, जो अग्रहार भूमि कहलाता था। इस प्रकार की भूमि से उपजाऊ एवं बंजर दोनों प्रकार की हो सकती थी। इस प्रकार की भूमि को सम्बन्धित समस्त अधिकार भी दानग्राही व्यक्ति को मिल जाता था। वह भूमि आप्रद, शासन, चतुर्वेयग्राम एवं ब्रह्मदेय, इत्यादि नामों से भी जाना जाता था। सबसे बड़ी बात थी कि इसे शासन की तरफ से जब्त नहीं किया जा सकता था।

उपनिषद और वेदों की परंपरा में शिव

धीरेंद्र कुमार शर्मा

भारत में शिव या रुद्र की उपासना अति प्राचीन काल से प्रचलित है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खनन में वृषभारूढ़ शिव की अनेक मूर्तियाँ, प्रतीकात्मक शिव की अनेक आकृतियाँ तथा बहुविध शिव की लिंगाकृतियाँ इसे प्रमाणित करती हैं कि सिन्धुघाटी सभ्यता से पूर्व भी इस देश में शिवोपासना प्रचलित थी। भारतीय दार्शनिक चिन्तन परम्परा में शिवोपासना का प्रचार दक्षिण भारत के तमिल प्रदेश में सर्वप्रथम हुआ। यह प्रदेश शैव धर्म का आज भी प्रधान दुर्ग माना जाता है। वैदिक युग में शिवोपासना के अनेक संकेत उपलब्ध हैं। यजुर्वेद में 'शतरुद्रीय' अध्याय से भला कौन परिचित नहीं है। इसी तरह अथर्ववेद में शिव को पशुपति और भागवत कहा गया है। उपनिषदों में तो शिव या रुद्र की ख्याति पर्याप्त प्रसिद्धि के साथ हुई है। अथर्वशिरस् उपनिषद में पाशुपत व्रत का सविशेष वर्णन है। इसी में भस्म–धारण का विधान और उसकी महत्ता का वर्णन है। समस्त जगत् शिव या रुद्ररूप ही है। भगवान शिव सर्वानन शिरोग्रीव, सर्वभूत गुहाशय, सर्वव्यापी और सर्वगत माने गये हैं। फिर भी उपनिषदों में निर्दिष्ट शिवतत्व तन्त्रशास्त्रों में निर्दिष्ट शिवतत्व से भिन्न प्रतीत होते हैं। काव्ययुग में महाभारत में पाशुपत मत का उल्लेख मिलता है (महाभारत, शान्तिपर्व)। इसके बाद पुराणयुग में शैवों के चार विभिन्न सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है। तदनुसार शैव, पाशुपत, कालदमन तथा कापालिक इन चार मतों का विश्लेषण प्राप्त होता है। शंकराचार्य ने माहेश्वरों का और उनके प्रसिद्ध पंच पदार्थों का उल्लेख किया है। इस सूत्र पर वाचस्पति की भामती और रत्नप्रभा ने पुराणोक्त तृतीय नाम के स्थान पर कारुणिक सिद्धान्ती, भास्कर ने काठक सिद्धान्ती एवं यामुनाचार्य ने कालामुख नाम दिया है (आगमप्रामाण्य)। कुछ सुधी समीक्षकों की दृष्टि में वैदिक मत के ह्रासकाल में शैव मत का उत्थान हुआ है। उस समय ब्राह्मण और क्षत्रियों के बीच वर्ग संघर्ष चल रहा था। ब्राह्मणों के आराध्य भगवान विष्णु थे और क्षत्रियों के उपास्य भगवान शिव थे। कुशान ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के राजाओं द्वारा स्वीकृत शिवभक्ति का साक्ष्य भी इस मत की पुष्टि करता है। कुछ समीक्षकों की दृष्टि में शिवोपासना का उद्गम दक्षिण भारत था। ह्रासोन्मुख जैन एवं बौद्ध धर्मों के विरुद्ध शैव मत का प्रसार हुआ था। इस समय ब्रह्मा और विष्णु को शिव का समीकृत रूप माना जाता था। शैव मत के सन्तों ने गीत गा–गा कर जनसामान्य के मन में शिवभक्ति की रुचि और जैन एवं बौद्ध मत के प्रति क्रमशः अरुचि उत्पन्न की थी। इन सन्तों के सत्प्रयास के परिणामस्वरूप शिवोपासना का पर्याप्त प्रसार हुआ। मैकडॉनल ने वैदिक रीडर शिव और रुद्र को अलग–अलग देवता के रूप में स्वीकार किया है। हमारे राष्ट्रकवि दिनकर ने भी चिन्तन की इसी विकृत धारा को परिष्कृत रूप में प्रस्तुत किया है। इन्होंने लिखा है, शिवसम्बन्धी आर्य और द्रविड़ नामों की तुलना से भी यह अनुमान पुष्ट होता है कि शिव की कल्पना अधिकांशतः आर्येतर है। मुख्यतः वह द्रविड़–संस्कार से आयी है। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने कहा है कि सुनीति बाबू के मतानुसार शिव का तमिल नाम सिवन् है, जिसका अर्थ लाल या रक्तवर्ण होता है।

प्राचीन काल में शिव का एक आर्य नाम 'नीललोहित' भी मिलता है, जिसके भीतर शिव को गरलपान की कथा का संकेत है। इसी प्रकार संस्कृत के शम्भु शब्द की तुलना तमिल के 'तेम्बू' शब्द से की जाती है। 'तेम्बू' शब्द का अर्थ तमिल ताँबा या लाल रंग वाले। आगे राष्ट्रकवि दिनकर ने लिखा है– इसलिए अनुमान है कि द्रविड़ों के यहाँ जो ताम्र वर्ण के प्रतापी देवता थे, वही आर्यों के मरुत्–स्वामी रुद्र से मिल गए तथा औट्रिक जाति वालों के पास जो अनेक जंगली देवता थे, उनके गुण भी धीरे–धीरे आकर रुद्रशिव की भावना के साथ जुड़ने लगे। इस तरह बहुत काल के बीत जाने पर शिव का रूप अत्यन्त विकसित हो गया और उसके एक छोर पर तो आर्यों की रुद्र सम्बन्धी दार्शनिक भावना प्रतिष्ठित हुई, जिसे आर्य और द्रविड़–दोनों जातियों के शिष्ट वर्ग ने अपनाया और दूसरे छोर पर शिव के पारिवारिक रूप, उनके अवढर और दयालु होने की बात तथा उनके योगेश्वर, भूतेश और फक्कड़ एवं अघोर होने की कथाएँ आ जुड़ी, जिनसे जनसाधारण को संतोष मिलने लगा ('संस्कृति के चार अध्याय' दिनकर, पहला अध्याय)। शैव सम्प्रदाय में शिव को परम यथार्थ सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है। शिव ही अनादि देव है। अजन्मा है।

सर्वथा निर्दोष, निर्विकल्प और सर्वेश्वर्य के प्रतीक हैं। शिव सर्वज्ञ हैं। सब कार्यों का कर्तृत्व उनमें समाहित है। जीवात्मा के लिए मोक्षद महादेव हैं। शिवकाल के द्वारा सीमित नहीं होने के कारण नित्य और स्थायी है। शिव अपनी शक्ति के द्वारा व्यापार करता है। वह शक्ति शिव के कारणरूप का साधन है। पौष्कर आगम के अनुसार शिव–शक्ति का ही अपर नाम कुण्डलिनी या शुद्ध माया है। शिव इन्हीं अपनी प्रबल शक्ति के माध्यम से अपने सब व्यापारों का सम्पादन करता है। इसी शक्ति के भीतर उस परम तत्व का अस्तित्व समाहित होता है। यह शक्ति ही शिवरूपी विशुद्ध चेतना तथा जड़ प्रकृति के मध्य एक कड़ी का काम करती है। शैव सम्प्रदाय के मूल ग्रन्थों को शैवागम कहा गया है। श्रीकण्ठ ने इन आगमों को वेद के समकक्ष कहा। माधवाचार्य ने शैव मतों को चार खण्डों में विभक्त किया है–नकुलीश–पाशुपत, शैव, प्रत्यभिज्ञा, रसेश्वर यामुनाचार्य ने शैव मतों को मात्र दो खण्डों में विभक्त किया है, कापालिक और कालामुख। अपना मूल उत्सभूमि दक्षिण भारत के तमिल प्रदेश में 'शव' मत दो भागों शैव सिद्धान्त अपने–आपको 'शुद्धाऽद्वैत' मानता है, किन्तु उसकी यह मान्यता शाब्दिक समता एवं चिन्तनगत विषमता की ही उद्भावना प्रकट करती है। समाचार्य के वेदान्त सम्प्रदाय का नाम भी 'शुद्धाऽद्वैत' ही है। वल्लभ सम्प्रदाय में शुद्ध शब्द का अर्थ– 'मायासम्बन्धरहित' तथा अद्वैत का अर्थ है–त्रिविध भेदरहित ब्रह्मय किन्तु शैव सिद्धान्त में शुद्ध का अर्थ 'निर्विशेष' होता है और अद्वैत का अर्थ है–कृ–भेदरहित द्वैत। अर्थात् द्वैत तत्वतः सत्य है और अद्वैत सम्बन्धतः सत्य है। जीव और जगत् तत्वतः शिव से भिन्न है। किन्तु उनका शिव से अपृथक् अभेद सम्बन्ध है। जीव और जगत् सत्य और नित्य है। इसीलिए कहा कि शब्दगत समता होते हुए भी शुद्धाद्वैत में अर्थगत भिन्नता या विषमता है। ऐसी मान्यता है कि ईश्वर अपनी शक्ति के द्वारा जागतिक व्यापार करता है। ईश्वर को शक्ति ईश्वर का साधनरूप कारण है। कर्मसिद्धान्त मनुष्य के धार्मिक लक्ष्यों के अनुसार कार्य सम्पन्न करता है। यह किसी भी उद्देश्य का निर्माण नहीं करता और न ही किसी कर्म की बुराई में भेद ही कर पाता है। कर्मफल का निर्णय तो अनन्त आत्मस्वरूप अच्छाई या बुराई में भेद नहीं कर पाता। कर्म फल का निर्णय तो अनंत आत्म रूप भगवान शिव के हाथों में है यह अपनी शक्ति की सहायता से अनंत आत्माओं को उसके कर्म का उचित फल देते हैं। ठीक उसी तरह, जैसे कुम्हार घड़े का स्रष्टा और चक्र उसके साधनरूप कारण है और मिट्टी उपादान कारण है। इसी प्रकार शिव संसार का स्रष्टा है। शक्ति साधनरूप कारण है। माया उपादान कारण है। जैसे शब्द राग के समस्त स्वरों में व्याप्त रहता है, सुगन्ध समस्त फूलों में व्याप्त रहती है, इसी प्रकार ईश्वर शक्ति के द्वारा समस्त संसार में इतनी पूर्णता के साथ व्याप्त रहता है कि वह संसार से पृथक् प्रतीत ही नहीं होता। ईश्वर आत्मा है और प्राकृतिक विश्व एवं मनुष्य उसके शरीर हैं। अद्वैतवाद से यहाँ तात्पर्य एकत्व है, पृथक–पृथक् नहीं है। शैव सिद्धान्त में शिव को परम तत्व माना है। शिव का एक अपर नाम पशुपति भी है। यहाँ पशु का अर्थ है– जीव और पति का अर्थ है–सब जीवों के स्वामी। इस पति में अष्ट गुणों का समाहरण है। ये आठ है–आत्मसत्ता, स्वाभाविक पवित्रता, स्वानुभूति अत्यन्त ज्ञान, परम स्वातन्त्र्य, अनन्त अनुग्रह या प्रेम, सर्वशक्ति और सात्विक जगत् और अशुद्ध प्राकृत जगत् में भेद स्वीकार करता है। शुद्ध ट का उपादान अन्तहीन आनन्द। रामानुज के शुद्ध सत्व और प्रकृति की तरह 'शैवसिद्धान्त' भी शुद्ध अथवा यथार्थ ज्ञान या विद्या है। अशुद्ध प्राकृतिक सृष्टि का उपादान कारण माया अथवा अशुद्ध बिन्दु है। महामाया और माया दोनों को शक्ति जड़ कारण महामाया, कुण्डलिनी, बिन्दु है। शैव सिद्धान्त में यह परिग्रह शक्ति के नाम से ख्यात है। यह परिवह शक्ति अर्थात् स्वरूपशक्ति से भिन्न है।

पञ्चाट, पञ्चात्मक, पञ्चानन तथा पञ्चकर्मी है। इसके प्रमुख पाँच कर्म हैं–विश्व की उत्पत्ति। शैव सिद्धान्त में शिव सर्वज्ञ, सर्वव्यापक एवं सर्वसत्ता या शक्ति सम्पन्न है। यह शिव स्थिति, विनष्टि, निग्रह और अनुग्रह उत्पत्ति, स्थिति और विनष्टि के अतिरिक्त शिवकर्म है–निग्रह। इस शक्ति से जीवों का ज्ञान या आनन्द किसी न किसी रूप में आवृत्त रहता है, तिरोहित अर्थात् ढंका रहता है। शिव की अनुग्रहशक्ति से आवरणभंग होकर जीवों को मुक्ति मिलती है। शैव सिद्धान्त में जीवों को पशु कहा गया है। क्योंकि ये जीव खूँटे में बँधे पशुओं की तरह अविद्यारूपी रस्सी में बंधे सांसारिक बन्धनों में जकड़े रहते हैं। जीव नित्य हैं। इच्छा, ज्ञान और क्रियायुक्त होने के कारण ये वास्तव में ज्ञाता, कर्ता या भोक्ता हैं। ये जीव स्थूल शरीर से, सूक्ष्म शरीर से, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण से भिन्न हैं। बद्ध जीव इच्छा, ज्ञान और क्रिया से सीमित प्रतीत होता है। यही जीव मोक्षावस्था में अपने शुद्ध स्वरूप को पा लेता है। 'पाश' शब्द का कोषगत अर्थ है–बन्धन, फाँस या पशु–पक्षियों को फँसाने का जाल। शैव सिद्धान्त में भी जीवों के बन्धन को पाश ही कहा गया है। ये पाश वहाँ त्रिविध हैं। यथा–अविद्या, कर्म और माया। अविद्या को ही आणवमल भी कहा जाता है। अविद्या अनादि और सब जीवों में समान भाव से व्याप्त है। अज्ञानरूप होने के कारण इसे अविद्या कहा जाता है। जीव के स्वाभाविक शुद्ध स्वरूप को आवृत्त किये रहना इसका काम है। इसी तरह इसे 'आणव' इसीलिये कहा गया है कि जीव स्वयं को अणुरूप और सीमित समझता है। कर्म जीवों द्वारा कृत कर्म है। कर्म अदृष्ट, सूक्ष्म और शक्तिरूप है। कर्म चेतन जीव और जड़ पदार्थों के सम्बन्ध का हेतु है। शैव मत में जीव तीन प्रकार के माने गये हैं। यथा–विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल। इनमें क्रमशः आणवमल, कार्मणमल और कायीयमल–ये तीन मल होते हैं। मुक्ति के लिए इन तीनों मलों से छुटकारा पाना परमावश्यक बतलाया गया है। मोक्षावस्था में जीव का शिव से तादात्म्य हो जाता है। और तादात्म्य का अर्थ अपृथक्त्व है। मोक्ष का अर्थ यहाँ शिवसायुज्य है। यहाँ जीवन्मुक्ति भी मान्य है। सत्कर्म, उपासना और ज्ञान भक्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं। इन कृत्यों से जीव शिव का अनुग्रह प्राप्त करता है।

प्राचीन भारतीय सिंचाई व्यवस्था

पवन कुमार पटेल

मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक विकास के साथ उसके सामाजिक ढाँचें में भी परिवर्तन होता रहता है। इसी विकास क्रम में हमें सभ्य समाज की रचना देखने को मिलती है। मानव मस्तिष्क विचारों का केन्द्र है। वह सामाजिक परिस्थितियों के साथ–साथ अपने विचारों में परिवर्तन करते जाता है। विचारों के माध्यम से ही मानव चेतना आगे बढ़ती है।

वह आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक भावनाओं को साकार तथा क्रियाशील बनाती और सिद्धान्त रूप में परिणत करती है।

सिन्धु घाटी की अन्नोत्पादन की प्रक्रिया में सिन्धु एवं उसकी सहायक नदियों का योगदान रहा। ताम्रपाषाणिक प्रथम नगरीय क्रान्ति में नदियों की वही भूमिका थी, जो कि छठी सदी ई.पू. की द्वितीय नगरीय क्रान्ति में लोहे की। उत्तर में रावी नदी के बायें तट पर हड़प्पा तथा दक्षिण में सिन्धु नदी के दाहिने तट पर स्थित मोहनजोदड़ो नदियों की ही देन थे। सिन्धु सभ्यता के युग में हड़प्पा और मोहनजोदड़ों के उपवर्ती प्रदेशों में कृषि होती थी। उसके लिये सिन्धु नदी का जल सिंचाई के काम में आता था। लगभग उसी युग में बलूचिस्तान में पत्थर के बने बाँधों के द्वारा नदियों का पानी रोककर सिंचाई करने की व्यवस्था थी। मश्काई घाटी में दो बाँध मिले हैं। इनके द्वारा ऊपर के पर्वत से आता हुआ पानी अभीष्ट दिशा में बहाया जाकर इकट्ठा किया जाता था और समयानुसार उससे सिंचाई की जाती थी। वास्तव में अन्नोत्पादन के लिये सिन्धु घाटी के लोग तीसरी सहस्त्राब्दि में दो प्रकार की प्रक्रिया पर निर्भर दिखाई देते हैं। प्रथम, सिन्धु तथा उसकी सहायक नदियों पर बन्धों का निर्माण, द्वितीय बाढ़ के समय नदी जल के फैलाव को तथा वर्षा के जल को खेतों के चारों ओर ऊँची–ऊँची मेड़ बना कर संचित कर लेना। डी.डी. कोसाम्बी ने प्रथम पद्धति को विशेष महत्व दिया है और कहा है कि सिन्धु की सहायक नदियों पर बन्धों को निर्मित कर देने से नदी का जल तथा उसके साथ लायी गयी उपजाऊ मिट्टी भी दोनों तरफ फैल जाती थी। इस मिट्टी को नुकीले यन्त्र से खुरच कर बीज डाल दिया जाता था। किन्तु इस प्रक्रिया से होने वाली पैदावार उस उपज की अपेक्षा कम होती थी जो कि विकसित तरीके के हल से जोती गयी भूमि तथा नहरों से की गयी सिंचाई से प्राप्त होती है। यदि आज इन बन्धों के अवशेष नहीं मिलते हैं, तो इसका कारण आर्यो द्वारा इनको विनष्ट करना है। डी.डी. कोसाम्बी ने इस सम्बन्ध में ऋग्वेद से स्पष्ट तथा असन्दिग्ध उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने ऋग्वेद में प्रयुक्त 'वृत्र' तथा 'रोधस' शब्दों का उल्लेख किया है, जिनका अर्थ वास्तव में बाँध या अवरोध होता है। इन्द्र ने अपने बज्र से 'वृत्र' का बध कर नदियों के जल को मुक्त किया और यह जल सूखी भूमि पर चारों ओर फैल गया। बन्धे के अर्थ में वृत्र शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में अन्यत्र भी हुआ है। 'रोध' शब्द भी मनुष्यकृत बन्धे के अर्थ में ऋग्वेद में प्रयुक्त मिलता है। जैसे– 'रिणग्रोधाँसि कृत्रिमाण्येषां'। बन्धों के अतिरिक्त खेतों के चारों ओर मेड़ बना कर वर्षा ऋतु में जल को संचित कर उसमें खरीफ की खेती भी यहाँ के निवासी करते रहे होंगे। इस प्रकार की खेती नदियों के किनारे ही सम्भव होती होगी। वैदिक साहित्य के अनुसार आर्य–कृषकों की सिंचाई प्रधानता कुओं से उसी प्रकार होती थी, जैसे आजकल होती है। तत्कालीन कुओं के नाम 'अवत' और 'उत्स' मिलते हैं। जल चक्र से निकाला जाता था। उस चक्र से वरत्रा (रस्सी) सम्बद्ध होता था और वरत्रा से कोश लगा रहता था। लकड़ी के कुण्ड से आहाव

में जल डाला जाता था। जल को सुर्मी या सुषिरा (नाली) से खेतों तक पहुँचाया जाता था। कुल्या नहरों के समान थीं, जिससे जलाशयों में पानी इकट्ठा किया गया है। अथर्ववेद में वर्णित जल के उपर्युक्त स्रोत एवं उसके महत्व से वैदिक कालीन भारतीय कृषक पूर्णतः परिचित थे। उपर्युक्त विवरण सिंचाई के साथ जल की विविधता का भी परिचायक है। यथा, एक कृषि वर्षा द्वारा, दूसरी नहरों के जल से और तीसरी कृषि हिम–पर्वतों के पिघले हुये बर्फ जल से सम्पन्न होती थी। ऋग्वेद में भी चार प्रकार के जल का उल्लेख हुआ है–दिव्य जल –यह वर्षा जल, विशेष कर स्वाति नक्षत्र में बरसे हुए जल का नाम है। स्त्रवणशील जल– ये नदियों में होते हैं। खनित्रिमा जल– यह खोदे हुए कूप या बावड़ी का जल है। स्वयंजा जल– यह पर्वतीय निर्झर–जल है। अथर्ववेद में भी इनका उल्लेख मिलता है। ये सभी प्रकार के जल कृषि कार्य के लिए उपयोगी बताए गए हैं। वैदिक काल में सिंचाई के मुख्यतः दो साधन थे– प्राकृतिक और कृत्रिम। प्राकृतिक सिंचाई नदी, झील, झरना और वर्षा जैसे स्वाभाविक जल स्रोतों द्वारा होती थी और कृत्रिम सिंचाई कुआँ, नहर, जलाशय आदि कृत्रिम जल स्रोतों द्वारा होती थी। रामायण और महाभारत के युग से सिंचाई के लिए जलाशयों का प्रचलन विशेष रूप से बढ़ा। इसके पहले के युग में प्रायः लोग नदियों के तट पर रहा करते थे और उनको सिंचाई के लिय नहरों का पानी पर्याप्त होता था, पर नदियों से दूर के प्रदेशों में जलाशय के जल से सिंचाई की सर्वोत्तम व्यवस्था हो सकती थी। जलाशय दो प्रकार के होते थे– प्राकृतिक नालों को बाँधकर अथवा भूमि को खोदकर बनाये हुए। महाभारत के अनुसार कृषि वर्षा के अधीन नहीं छोड़ी जानी चाहिए। महाभारतकालीन तड़ागों के चारों ओर वृक्ष आरोपित होते थे। कई तालाबों में केवल वर्षा में जल रहता था। बड़े तालाबों में वर्ष भर जल पूरा रहता था। सिंचाई के लिए कभी–कभी गाँव के सभी लोग सम्मिलित होकर बाँध बनवाते थे। पूरा गाँव उसमें धन लगाता था और प्रत्येक के लिए आवश्यक था कि वह स्वयं काम में जुटे। यदि कोई स्वयं नहीं जाता था तो उसे व्यय में तो भागीदार होना पड़ता था, पर लाभ में उसे कोई भाग नहीं मिलता था। खेती के लिए बीस हल से जोती जाने योग्य भूमि पर एक कुआँ बनाने का विधान था। सिंचाई करने योग्य भूमि में अनेक जलाशय ऊपर–नीचे बने होते थे। ऊँचाई पर बने जलाशयों से नीचे के जलाशयों में पानी भरता रहता था। सिंचाई के लिए जलाशयों का महत्व लोगों ने स्पष्ट रूप से समझ लिया था। सेतुबन्ध (जलाशय) अनाज की उत्पत्ति के हेतु हैं, अच्छी वर्षा से जो खेती हो सकती है, वह नित्य ही सेतुबन्धों के द्वारा सम्भव है। वायु की शक्ति से जल ऊपर खींचकर सिंचाई होने लगी थी।

आचार्य कौटिल्य का कहना है कि ''धन लगाकर स्वयं परिश्रम करके बनाये हुए तालाब आदि से, हाथ से जल ढोकर खेत सींचने पर, किसानों को अपनी उपज का पाँचवा हिस्सा राजा के लिए देना चाहिए। इसी प्रकार तालाबों से यदि कन्धे से पानी ढोकर सींचा जाय तो किसान अपनी उपज का चौथा हिस्सा राजा को दे। यदि छोटी नहर या नालियाँ बनाकर उनके द्वारा खेतों को सींचा जाये, तो उपज का तीसरा हिस्सा राजा को दिया जाना चाहिए। उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि सिंचाई के लिए 1X5, 1X4, 1X3 भाग कर के रूप में निर्धारित किया गया था। सिंचाई के लिए वे दो प्रकार बाँध बनाने की व्यवस्था देते हैं। इसी क्रम में कौटिल्य बाँध को हानि पहुँचाने वालों के लिए दण्ड की भी व्यवस्था का निर्देश करते हैं। कृषि नीति के अंतर्गत सिंचाई अथवा तल संसाधन का विशेष महत्व था। जल की उचित व्यवस्था के अभाव में खेती तथा अन्नोत्पादन सम्बन्धी सभी प्रयास निष्फल हो जाते हैं। राज्य को चाहिए कि बाँध या तालाब आदि का निर्माण कराये और यदि कोई व्यक्ति स्वयं इस प्रकार का निर्माण करा रहा हो तो उसे आवश्यकता अनुसार भूमि, मार्ग या उपकरण आदि सुलभ कराये। कौटिल्य के अनुसार सर्वोत्तम जनपद वह है, जो अदेवमातृक हो अर्थात् जो खेती के लिए वर्षा के जल पर निर्भर न रहता हो तथा जहाँ नदी, झील, ताल आदि प्रचुर मात्रा में सुलभ हों। ऐसे जनसन्निवेशों में जो देवमातृक हैं, वहाँ खेती के लिए नदी आदि का जल सुलभ न हो एवं जहाँ के किसान खेती के लिए वर्षा पर ही निर्भर रहते हों, वहाँ राज्य या व्यक्ति विशेष द्वारा जल प्रबन्धन 'सेतु' का महत्व बहुत बढ़ जाता है। ग्रामीण अर्थव्यवस्था में इन कृत्रिम जल संसाधनों का कितना अधिक महत्व था, यह इस सम्बन्ध में कौटिल्य द्वारा दी गयी व्यवस्था से ज्ञात हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति नवीन तड़ाग या बाँध निर्मित कराता है, तो उसे पाँच वर्ष तक कर में छूट दी जाती थी, यदि किसी व्यक्ति द्वारा भग्न तड़ाग आदि का जीर्णोद्धार किया गया हो तो वर्ष की, यदि बहुत काल तक उपेक्षा के कारण कोई तड़ाग घास एवं झाड़ियों से ढक गया हो और उसकी सफाई करायी गई तो तीन वर्ष की और यदि कोई सूखी एवं परती पड़ी भूमि को खेती योग्य बनाता है तो दो वर्ष तक कर में छूट राज्य द्वारा दी जाती थी। पुण्य कार्य मानते हुए यदि कभी किसी व्यक्ति ने धर्मसेतु या तड़ाग को बनवाया हो और बाद में कोई अन्य व्यक्ति ऐसे तड़ाग को बन्धक रख दे या उसका विक्रय कर दे तो ऐसे व्यक्ति पर मध्यम कोटि का दण्ड लगाया जाता था। जल संसाधन सम्बन्धी इस प्रकार की व्यवस्था जिसमें तड़ागादि के निर्माण में कर छूट एवं उसे विनष्ट करने में दण्ड का निर्धारण कृषि को समृद्धि करने में अवश्य ही सहायक होगी। राज्य स्तर पर भी इस काल में सिंचाई की व्यवस्था की जाती थी। जैसा कि महाक्षत्रप रूद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में उसके राष्ट्रिक वैश्य पुष्यगुप्त ने सुदर्शन झील का निर्माण कराया था और पुनः अशोक के शासन काल में उसके अधीनस्थ यवनराज तुषाष्प ने इस झील से अनेक छोटी–छोटी नालियाँ बनवाई थीं। सिंचाई के लिए किए गए इस प्रकार के कार्य जो व्यक्तिगत और राजकीय दोनों स्तर पर थे, मौर्य शासकों की कृषि नीति के ही अनुभाग थे।

अवंतीपुर और प्रथम गणितज्ञ लगध

मिथिलेश यादव

कश्मीर प्राचीनकाल से हिन्दू धर्म का एक बहुत ही महत्वपूर्ण केंद्र रहा है। कश्मीर नाम की उत्पत्ति श्रद्धेय ऋषियों में से एक ऋषि कश्यप से हुई है। यह शांति, सुंदरता और ज्ञान की भूमि रही है। यह भूमि परम दिव्य ज्ञान का निवास स्थान रहा है जो अनादि काल से महान् संतों की शिक्षाओं में प्रकट हुआ है। सौंदर्य, दर्शन, काव्य, भक्ति तथा कला के साथ ही गणित के क्षेत्र में भी इस भूमि ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। लगत जैसे दुनिया के पहले ज्ञात गणितज्ञ भी इसी कश्मीर की प्राचीन राजधानी अवंतीपुर के निवासी थे। अवंतीपुर से ही वे किशोरावस्था में ही विद्यार्जन के लिए महर्षि संदीपनी के आश्रम सूदूर उज्जैन आए थे। लगध वैदिक ज्योतिषशास्त्र की पुस्तक वेदांग ज्योतिष के प्रणेता है। इनका काल 1350 ई.पू. माना जाता है। इस ग्रन्थ का उपयोग करके वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान का समय निश्चित किया जाता था। इसे भारत में गणितीय खगोलशास्त्र पर आद्य कार्य माना जाता है ईसा पूर्व 1350 वर्ष में लिखा गया लगध द्वार वेदांग ज्योतिष कालविज्ञापक शास्त्र है। इसमें कहा गया है कि ठीक तिथि, नक्षत्र पर किये गये यज्ञादि कार्य फल देता है। चारों वेदों में अलग–अलग ज्योतिष थे। इसमें ऋक तथा यजुः ज्योतिष के प्रणेता आचार्य महात्मा लगध थे। ज्योतिष शास्त्र के रूप में तीन स्कंधों में, सिद्धान्त, संहिता एवं होरा का मुख्य रूप से भूमिका है। वेदागं ज्योतिष, सिध्दान्त ज्योतिष है, जिसमें सूर्य तथा चन्द्र की गति का गणित है। इसी के आधार पर दिन, माह, वर्ष, तथा युग का निर्माण किया गया है। यह गणित श्रेष्ठ है। गणित एवं खगोल विज्ञान के क्षेत्र में लगध का योगदान बहुत महत्वपूर्ण है। लगध द्वारा वेदांग ज्योतिष कालविज्ञापक शास्त्र से संसार में प्रारंभ माना जाता है। यह एक ऐसा विचार और पहले था जिससे खुले आसमान में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी पर गणित के सहारे समय, काल एवं ऋतुओं के विषय में जानकारी हासिल की गयी। यह काल गणना धर्म, कर्म के कारण उत्पन्न हुई लेकिन उसका आधुनिक आज का स्वरूप निश्चित रूप से मनुष्य के लिए भारत से प्रारंभ किया गया था। 24 घंटे को एक दिन एवं 15 दिन का एक पक्ष तथा दो पक्ष का एक माह और 366 दिनों का एक वर्ष एवं एक वर्ष में छः ऋतु का गणित लगध ने सर्व प्रथम दिया था जो लगभग सही है। सिर्फ नाम में अंतर हुआ है एवं काल गणना का कुछ अंश में परिवर्तन हुआ है। पृथ्वी पर दिन–रात के लिए सुविकसित ज्ञान प्राप्त करने के बाद इसे सूर्य तथा चन्द्र से आकाश में इनके बारे में तारामंडल जिसे नक्षत्र एवं राशि से संबंध को त्रिराशिक नियम से जोड़ा गया। लगध द्वारा दिया गया माह तथा ऋतु का नाम कुछ इस प्रकार था। बारह माह, 1–तपः, माघ 2–तपस्य, फाल्गुन 3–मधु, चौत्र 4–माधव, वैशाख 5–शुक्र, जेष्ठ 6–शुचि, अषाढ़ 7–नमः, श्रावण 8–नभस्य, भाद्र 9–इष, आश्विन 10– उर्ज, कार्तिक 11–सहः, मार्गशीर्ष, 12–सहस्थ अर्थात माघ है। छः ऋतुओ का नाम शिशर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद एवं हेमन्त है। इस प्रकार लगध ने दिवस, मास, ऋतु, लग्न एवं धर्म–कर्म के लिए जो व्यवस्था दिया था उसी से संसार ने इसे आगे बढ़ाया। शास्त्र के रूप में 'गणित' का प्राचीनतम प्रयोग लगध ऋषि द्वारा प्रोक्त वेदांग ज्योतिष नामक ग्रन्थ के एक श्लोक में माना जाता है, पर इससे भी पूर्व छान्दोग्य उपनिषद में सनत्कुमार के पूछने पर नारद ने जो 18 अधीत विद्याओं की सूची प्रस्तुत की है, उसमें ज्योतिष के लिये 'नक्षत्र विद्या' तथा गणित के लिये 'राशि विद्या' नाम प्रदान किया है।

अंकगणितीय क्रियाएँ जैसे योग, घटाना, गुणन, भाग, वर्ग, घन और मूल नारद विष्णु पुराण में वर्णित हैं। इसके प्रणेता वेद व्यास माने जाते हैं जो 1000 ई. पू. हुए थे। ज्यामिति रेखा गणित विद्या के उदाहरण 800 ई. पू. में बौधायन के शुल्व सूत्र में और 600 ई. पू. के आपस्तम्ब सूत्र में मिलते हैं जो वैदिककाल में प्रयुक्त कर्मकाण्डीय बलि वेदी के निर्माण की तकनीक का वर्णन करते हैं। हो सकता है कि इन ग्रंथों ने पूर्वकाल में, संभवतया हरप्पाकाल में अर्जित ज्यामितीय ज्ञान का उपयोग किया हो। बौधायन सूत्र बुनियादी ज्यामितीय आकारों के बारे तथा एक ज्यामितीय आकार दूसरे समक्षेत्रीय आकार में या उसके अंश या उसके गुणित में परिणत करने की जानकारी प्रदर्शित करता है उदाहरण के लिए एक आयत को एक समक्षेत्रीय वर्ग के रूप में अथवा उसके अंश या गुणित में परिणत करने का तरीका। इन सूत्रों में से कुछ तो निकटतम मान तक ले जाते हैं और कुछ एकदम शुद्ध मान बतलाते हैं तथा कुछ हद तक व्यवहारिक सूक्ष्मता और बुनियादी ज्यामितीय सिद्धांतों की समझ प्रगट करते हैं।

इससे यह भी प्रकट है कि उस समय इन शास्त्रों की तथा इनके विद्वानों की अलग–अलग प्रसिद्धी हो चली थी। आगे चलकर इस शास्त्र के लिये अनेक नाम विकसित होते रहे। सर्वप्रथम ब्रह्मगुप्त ने पाट या पाटी का प्रयोग किया। बाद में श्रीधराचार्य ने 'पाटी गणित' नाम से महनीय ग्रन्थ लिखा। तब से यह नाम लोकप्रिय हो गया। पाटी या तख्ती पर खड़िया द्वारा संक्रियाएँ करने से यह नाम समाज में चलने लगा। अरब में भी गणित की इस पद्धति को अपनाने से इस नाम के वजन पर इल्म हिसाब अल तख्त नाम प्रचलित हुआ। भास्कराचार्य के समय इस नाम से प्रथित शास्त्र विद्वानों की बुद्धि का निष्कर्ष था। उन्होंने एक स्थान पर कहा है कि मन्दमति लोगों की प्रतिभा को बढ़ाने के लिये सुन्दर बुद्धि वाले विद्वानों ने पाटी गणित शास्त्र को विकसित किया है। महात्मा 'लगध' का यह अवंतीपुर अपने हिंदू स्थापत्य के लिए भी जाना जाता है।

पुस्तक चर्चा/अमित बिसेन

समय के प्रवाह को दर्शाती राजतरंगिणी

राजतरंगिणी, कल्हण द्वारा रचित एक संस्कृत ग्रन्थ है। 'राजतरंगिणी' का शाब्दिक अर्थ है– राजाओं की नदी, जिसका भावार्थ है– राजाओं का इतिहास या समय–प्रवाह। यह कविता के रूप में है। इसमें कश्मीर का इतिहास वर्णित है जो महाभारत काल से आरम्भ होता है। राजतरंगिणी का इतिहास सप्तर्षि संवत् के माध्यम से लिखा गया। इसका रचना काल सन 1147 से 1149 तक बताया जाता है। इस पुस्तक के अनुसार कश्मीर का नाम 'कश्यपमेरु' था जो ब्रह्मा के पुत्र ऋषि मरीचि के पुत्र थे। राजतरंगिणी के प्रथम तरंग में बताया गया है कि सबसे पहले कश्मीर में पांडवों के सबसे छोटे भाई सहदेव ने राज्य की स्थापना की थी और उस समय कश्मीर में केवल वैदिक धर्म ही प्रचलित था। फिर सन् 273 ईसा पूर्व कश्मीर में बौद्ध धर्म का आगमन हुआ। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में औरेल स्टीन ने पण्डित गोविन्द कौल के सहयोग से राजतरंगिणी का अंग्रेजी अनुवाद कराया। राजतरंगिणी एक निष्पक्ष और निर्भय ऐतिहासिक कृति है। स्वयं कल्हण ने राजतरंगिणी में कहा है कि एक सच्चे इतिहास लेखक की वाणी को न्यायाधीश के समान राग–द्वेष–विनिर्मुक्त होना चाहिए, तभी उसकी प्रशंसा हो सकती है– राजतरंगिणी में आठ तरंग (अर्थात, अध्याय) और संस्कृत में कुल 7826 श्लोक हैं। इस पुस्तक के प्रथम तीन अध्याय कश्मीर की पीढ़ी–दर–पीढ़ी से आ रही मौखिक परंपराओं का चित्रण है। अगले तीन अध्याय भी इतिवृत्तात्मक ही हैं। केवल अंतिम दो अध्याय कल्हण की व्यक्तिगत जानकारी एवं ग्रंथावलोकन पर आधारित हैं। कल्हण की इस पुस्तिका के तीन घोषित उद्देश्य हैं– पुराने राजवंशों की जानकारी देना, पाठकों का मनोरंजन करना, अतीत से शिक्षा लेना। स्पष्ट है कि पुस्तक के मूल उद्देश्य इतिहासेतर हैं। कल्हण राजतरंगिणी में तथ्यों से कम नैतिकता से अधिक संबंधित है। लेकिन इतना जरूर कहना होगा कि राजतरंगिणी भारतीय इतिहास–लेखन का प्रस्थान–बिन्दु है। कल्हण (1150 ई.) कश्मीर के महाराज हर्षदेव के महामात्य चंपक के पुत्र और संगीतमर्मज्ञ कनक के अग्रज थे। मंखक ने श्रीकंठचरित में कल्याण नाम के इसी कवि की प्रौढ़ता को सराहा है और इसे महामंत्री अलकदत्त के प्रश्रय में 'बहुकथा के लिए परिश्रम निरंकुश' घोषित किया है। वास्तव में कल्हण एक विलक्षण महाकवि थे। उसकी 'सरस्वती' रागद्वेष से अलेप रहकर 'भूतार्थचित्रण' के साथ ही साथ 'रम्यनिर्माण' में भी निपुण थी। तभी तो बीते हुए काल को 'प्रत्यक्ष' बनाने में उसे सरस सफलता मिली है। 'दुष्ट वैदुष्य' से बचने का उसने सुरुचिपूर्ण प्रयत्न किया है और 'कविकर्म' के सहज गौरव को प्रणाम करते हुए उसने अपनी प्रतिभा का सचेत उपयोग किया है। इतिहास और

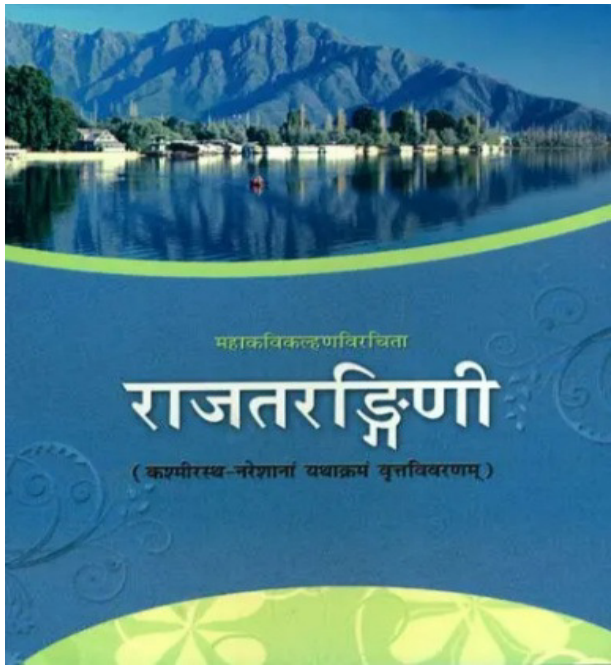

काव्य के संगम पर उसने अपने 'प्रबंध' को शांत रस का 'मूर्धाभिषेक' दिया है और अपने पाठकों को राजतरंगिणी की अमंद रसधारा का आस्वादन करने को आमंत्रित किया है। सच तो यह है कि कल्हण ने 'इतिहास' (इतिह्आस) को काव्य की विषयवस्तु बनाकर भारतीय साहित्य को एक नई विधा प्रदान की है और राष्ट्रजीवन के व्यापक विस्तार के साथ–साथ मानव प्रकृति की गहराइयों को भी छू लिया है। शांत रस के असीम पारावार में श्रृंगार, वीर, रौद्र, अद्भुत, वीभत्स और करुण आदि सभी रस हिलोरें लेते दिखाए गए हैं और बीच–बीच में हास्य और व्यंग के जो छीटे उड़ते रहते हैं वे भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। क्षेमेंद्र के बाद कल्हण ने ही तो सामयिक समाज पर व्यंग कसकर संस्कृत साहित्य की एक भारी कमी को पूरा करने में योग दिया है। इतिहासकार के नाते निःसंदेह कल्हण की अपनी सीमाएँ हैं, विशेषकर प्रारंभिक वंशावलियों और कालगणना के बारे में। उसके साधन भी तो सीमित थे। पर खेद की बात है कि अपनी विवशता से सतर्क रहने के बजाए उसने कुछ लोकप्रचलित अंधविश्वासों को अत्युक्तियुक्त मान्यता दी। अपनी कुछ कमजोरियों के बावजूद कल्हण का दृष्टिकोण प्रायः आज के इतिहासकार जैसा है। स्वयं तो वह समसामयिक स्थानीय पूर्वाग्रहों के ऊपर उठ ही गया है, साथ ही घटनाओं के वर्णन में अत्यंत समीचीन अनुपात रखा है। विवरण की संक्षिप्तता सराहनीय है।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए 1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com